

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182252

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6/3526 Accession No. G.H. 2111

Author ~~जाणक्य~~ | शान्ति |

Title ~~अभि~~ जाणक्य |

This book should be returned on or before the date
last marked below.

चाणक्य

“व्यर्थ सागर को है बरसात
तृप्त को व्यर्थ सुधा का दान ,
धनी को व्यर्थ संपदा और
व्यर्थ ही दिन में है दिनमान”

(चाणक्य-नीति से)

मुद्रक :—
नवज्योति-प्रेस,
पानदरीबा, लखनऊ

मूल्य १७)

प्रकाशक
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानदरीबा, लखनऊ

‘कुमार ! राजत्व भी वैश्वानर है । वह जलता है और जलाता है, पोषण करता है और पुनीत करता है, विध्वंस करता है और सृजन करता है । उसे जो पाता है वह उसके प्रताप से तपता है फिर भी उसी के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति करता है और दूसरो को कराता है ।’

इंगीलिये “तुझे मैं हाथ में राजदंड लिए बैठा देखता हूँ तो मर्यादम की आश्रयरूप विद्या से तुझे प्रेरित देखता हूँ; प्रजा, तुझे वाक्य-क्रिया विशारद और लोक-कल्याण में तत्पर करती हुई देखता हूँ; तीनों वेद द्वारा लोक-सरक्षण करता, वर्णाश्रम की मर्यादा का पालन करता, आर्यमर्यादाओं को साक्षात् करता, स्वधर्म में प्रजा को प्रवृत्त करता, उनको स्वर्ग और अनत्य दान करता हुआ तुझे देख रहा हूँ । मैं तुझे कृषि सपन्न होते, पशु पालन करते, वाणिज्य में वैभव बढ़ाते हुए देखता हूँ; लोकयात्रा के आधार रूप दण्ड-नीति से अलब्ध का लाभ प्राप्त करता—उपलब्ध की रक्षा करता—रक्षित को बढ़ाता—वृद्धि को सुयोग्य बनाता हुआ तुझे देखता हूँ, और भीर्यश्रेष्ठ ! चारों विद्याओं से राज्यचक्र चलाते, तेरी छत्रछाया में अनेक राष्ट्रों और गणों को एकत्रित. आर्य-धर्म द्वारा लोक सग्रह का उद्धार करता, महर्षियों के जीवन—मंत्रों को सनातन करता, अरुणि और आर्यावर्त की सीमाओं को एक करता हुआ देखता हूँ ।”

श्रद्धेय श्री मैथिलीशरण गुप्त को—

दहा ! है आशीष तुम्हारी परम पुण्य वरदानो
जिसको पाकर धन्य हो गई इन गीतों की वाणी ।
भेट नहीं यह, किंतु हुई है मुखरित मन की भाषा
नहीं प्रथा-पालन, है मेरी सजग हुई अभिलाषा ।
सुनकर यही कहोगे इसकी क्या थी आवश्यकता
पर गुस्ता को देख स्वय ही मेरा मस्तक भुक्तता ।

शांति

'चाणक्य' लिखकार और उसे प्रकाशित देख कर में मोचनी हूँ कि मेरा लगनरु में एक माह का निवास सार्थक हो गया ।

'चाणक्य' लिखने का निश्चय मैंने लगभग एक वर्ष पूर्व किया था और तन्मन्त्रों ग्रन्थों का अवलोकन भी मेरे तब ही में प्रारंभ कर दिया था । प्रारंभ में मैं उसे वर्णनात्मक प्रबंध-काव्य के रूप में लिखना चाहती थी । इस विषय के ग्रन्थों को उलटने-पलटने में मुझे ऐसा लगा कि इस विवाद-ग्रन्थ गाथा के साथ न्याय कर सकना संभव नहीं । इसके अति-रिक्त घटनाओं के विकास और क्रम में कहीं अधिक महत्वपूर्ण चाणक्य का व्यक्तित्व प्रतीत हुआ । जितना ही मैंने उसके विषय में सोचा और मनन किया, उतना ही वह मुझे रहस्यपूर्ण, प्रभावोत्पादक, अपूर्व और विषमताओं के समन्वय के रूप में दिखाई दिया । यह धारणा क्रमशः परिपक्व हुई और मैंने यही निश्चय किया कि इसे साधारण ऐतिहासिक खण्ड-काव्य की अपेक्षा, चाणक्य के रगात्मक मनोभावों के सकलन एवं आत्म-विश्लेषण के परिचायक के रूप में लिखा जाय और अंत में मैंने यही किया ।

इस प्रकार प्रस्तुत रचना में मैंने यह कल्पना की है कि मानो चाणक्य अपने जीवन के अंतिम काल में अपने से संबंधित घटनाओं एवं अपने संपूर्ण जीवन पर आत्म-चिंतन के रूप में दृष्टिपात करता

है। निर्विकार रूप से उनकी व्याख्या तथा उनका विश्लेषण करता है। इसी आत्मचिंतन में उसके व्यक्तित्व की गहनता का एक आभास प्राप्त होता है ; उसके दार्शनिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक सिद्धांतों की भी झलक दिखाई देती है।

प्रस्तुत गीतों में इतिहास पृष्ठ-भूमि बन कर आया है। वस्तुतः चाणक्य से संबंधित सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख अथवा संकेत देने का प्रयास किया गया है। विवादग्रस्त विषयों में प्रायः बहुमान्य मत को ही अवलंब माना गया है। यह स्पष्ट है कि केवल गीतों में चाणक्य के महान व्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं हो सका है और न ऐसा कर सकना संभव ही था। नंद-वंश के अत्याचार, बौद्ध एवं जैनियों के आध्यात्मिक पतन, शक्ति और पौरुष का ह्रास तथा विदेशी आक्रमण--इन सबकी विषमताओं में चाणक्य बहुमुखी क्रांति का अग्रदूत बनकर आया। देश में बिखरी हुई शक्ति को संगठित करके उसने चंद्रगुप्त के रूप में एक आदर्श सम्राट देश के सम्मुख उपस्थित किया एवं आदर्श शासन-व्यवस्था के लिये उपयुक्त सिद्धांतों का सृजन किया। वस्तुतः, भारत के पूर्व-मध्य-कालीन इतिहास में चाणक्य उस धूमकेतु के समान है जो स्वयं तो कुछ वर्षों तक चमक कर विलीन हो गया, किंतु जिसका प्रकाश सदियों तक शासन-पथ को आलोकित करता रहा। वह कर्मयोगी, स्थितिप्रज्ञ एवं त्यागी था। इसमें संदेह नहीं कि केवल मौर्य-वंश के ही लिए नहीं अपितु शक्तिशाली, संगठित एवं सुदृढ़ साम्राज्य-भवन के लिये चाणक्य नींव के समान बना और उसकी कर्म-नीथिका में यत्र-तत्र कुरूपता की झलक नींव के सुदृढ़ पत्थरों की उसी कुटिलता के समान है जिसकी दृढ़ता पर निर्माण सधा रहता है।

चाणक्य का जीवन व्यापक विभिन्नताओं; परस्पर-विरोधी तत्वों एवं गुणों, स्थितियों तथा विवेचनाओं का अजायबखर सा है। प्रकृति और घटनाचक्र ने उसे हठी तथा उसके आत्म-चिंतन और तत्व-दर्शन ने उसे

अनुभवी, चतुर, दूरदर्शी एवं फूंक फूंक कर पैर रखने वाला बना दिया था। उसमें त्याग की शक्ति, मर्यादा का मान, व्रत की निष्ठा, लक्ष्य के प्रति जागरूकता तथा निश्चय के प्रति विश्वास—सब कुछ समान रूप से था। बाहर से दिखने वाला 'अहं' उसकी आत्म-चेतना थी और उसका विश्वास उसके पौरुष का संकल्प था। जिस प्रकार अगणित सरितायें पृथक पृथक बहकर एक दिन अनंत सागर में विलीन होकर अपनी दुर्बल सत्ताओं को अक्षय प्रवाह में लीन कर देती हैं, उसी प्रकार चाणक्य के लिये कर्म निमित्त मात्र हैं ; प्राप्ति में इनका विसर्जन हो जाता है। अतः इनके विश्लेषण के लिये रुक जाना फल को दुरुह बनाने की भूल करना है। चाणक्य को फल की प्राप्ति हो गई और इसीलिये वह अपने कर्मों की नैतिकता के विषय में सदैव उदासीन रहा और अंत में—“किंतु अब संतोष लेकर जा रहा हूँ”—के रूप में अपना रहस्योद्घाटन करता है।

बुद्धि-तत्त्व से श्रोतप्रोत किंतु भावना एवं हृदय-तत्त्व से सर्वथा शून्य चाणक्य की कल्पना कतिपय इतिहासकारों की सूझ है। यह निर्विवाद है कि मानव अस्तित्व एवं व्यक्तित्व की योजना दोनों तत्त्वों के संघर्ष, संतुलन और समन्वय से होती है। कम या अधिक की बात दूसरी है। मेरी निज की धारणा के अनुरूप—जिसकी पुष्टि अधिकांश इतिहासविज्ञ करते हैं—चाणक्य में बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता थी और वह अपने कर्मों को यहीं से जन्म देता था। उसका हृदय-तत्त्व अत्यन्त सीमित और संयमित था। बुद्धि की शतरंज पर अपनी योजनाओं के मोहरे चलाने में वह जीवन भर इस प्रकार व्यस्त रहा कि उसे अपने हृदय के अधखुले कपाटों में से झाँककर उसमें विश्राम करने वाले भावों के दर्शन करने का अवसर ही नहीं मिल पाया। फिर भी वह भावना-शून्य नहीं था।

राजनीतिज्ञ, कर्मवीर और अर्थशास्त्री होने के अतिरिक्त वह साहित्य-मनीषी भी था। नीति, आचार-विचार एवं व्यवहार-दर्शन

का वह पंडित था । इस प्रकार चाणक्य के रूप में हमें मानव व्यक्तित्व की पूर्णता परिलक्षित होती है । एक पाश्चात्य इतिहासकार ने ठीक ही कहा है कि यदि चाणक्य शरीर से कुरूप न होकर सुंदर होता तो उसका व्यक्तित्व समार का सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व माना जा सकता था ।

तत्कालीन इतिहासकार मेगास्थनीज ने अपने यात्रा वृत्तान्त में अनेक स्थलों पर चाणक्य को श्रद्धांजलि समर्पित की है जो स्पष्टतः इस मृत्यु का परिचारा तथा प्रमाण है कि चाणक्य अपने काल में विवाद का विषय रहते हुए भी पर्याप्त श्रद्धाभाजन बन चुका था । चाणक्य के प्रभाव के फलस्वरूप ही उस समय मुद्गर दक्षिण के प्रदेशों में तक्षशिला 'मिद्धपीठ' माना जाता था । निम्नदेह चाणक्य अपने काल का युग-नता था जिमने एक नये युग का जन्म देकर उसकी चारों दिशाओं को आलोकित किया ।

उन मंत्रके अतिरिक्त चाणक्य के व्यक्तित्व में एक जादू था । निर्वल तो उसके आगे ठहर ही नहीं सकते थे, साहसी भी उसके सामने भुक्ने के लिए विवश हो जाते थे । उस जादू में न कोई कृत्रिम तत्व था, न बाल्य-उपकरण । स्पष्टता ही चाणक्य का आभूषण थी और अपनी इस ईश्वरीय देन का उसने सर्वोत्तम उपयोग भी किया ।

यह सब कुछ तो हुआ नायक के विषय में । पुस्तक के विषय में भी कुछ कह दूँ । छोट्टे गीत लिखना मेरा स्वभाव रहा है । विभिन्न छन्द, शैली एवं प्रणाली का उपयोग मैंने अपने अन्य गीत-मण्डल के समान ही यहाँ भी किया है । भाषा में चाणक्य के व्यक्तित्व की गहनता कहाँ से आती, हाँ उसकी झलक लाने का प्रयत्न अवश्य किया है । भाषा में स्वाभाविकता का स्वाग भग्ने के लिये मस्कृत पदावलियों का व्यवहार मुझे उचित नहीं जान पडा । संपूर्ण गीत चाणक्य द्वारा ही कहे गये हैं ; अतः उसके दृष्टिकोण को स्मरण रखते हुए ही पढ़े जाने चाहिए ।

पूज्य श्री मैथिलीशरणा गुप्त, श्री मियारामशरणा गुप्त तथा श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने पथ-प्रदर्शन एवं आशिष द्वारा जो आत्मबल प्रदान किया, वही वस्तुतः इस काव्य-ग्रन्थ का उद्गम बना। सर्वश्री डा० रघुवीर सिंह, रामप्रताप त्रिपाठी तथा बलभद्र प्रसाद मिश्र ने आवश्यकतानुसार मुझे इस विषय में सर्वाधिक सुझाव तथा पुस्तकें प्रदान कीं। ये सब मेरे गुरुजन हैं, इन्हें धन्यवाद देने भी मकोच होता है।

मेरी अच्छी नानी ने, जिनके साथ मैं इस काव्य-ग्रन्थ के लिखते समय रही, अपने अनुबल स्नेह एवं कर्गगा द्वारा ऐसा वातावरण प्रदान किया जिसकी छाया में ही यह सृजन संभव हो सका।

अन मे 'उनसे' भी मे यह कहे बिना नहीं रह पाती कि उनके अनवरत आग्रह, उत्साह, सहयोग और प्रेरणा के पलक्यरूप ही 'चाणक्य' पूर्ण हो सका।

भाई भृगुराज भार्गव जिन्होंने एक सप्ताह के संक्षिप्त काल में ही पुस्तक प्रकाशित करने की कृपा की, मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

अनुक्रमणिका

१—(स्वगत)	१
२—यह तक्षशिला के बाहर मेरा प्रथम चरण ।	२
३—जय ! जय ! भारत के सिंह द्वार !	४
४—पावन तक्षशिला !	५
५—अकेला चला रे !	६
६—मेरा पथ !	७
७—नही वह बचपन आये याद...	८
८—यही है पावन जन्मस्थलि !	१०
९—पिता तुम पर मुझको अभिमान ।	११
१०—बदन , अभिनदन ।	१२
११—ब्राह्मण पैदल जा न सकेगा	१३
१२—क्यों इतना अपमान ?	१४
१३—तब तक शिखा नही बाँधूंगा !	१५
१४—जय जय शिव शंभू जय हर हर !	१६
१५—हहर, हहर बह !	१७
१६—ब्राह्मण में विप भी अमृत भी ।	१८

(छ)

१७—यह वर्गाश्रम-पथ के रोड़े !	१६
१८—बुद्ध शरणां गच्छामि ।	२०
१९—भावुकता ही धर्म नहीं है ।	२१
२०—ब्राह्मण धर्म अनन्त, अनश्वर ।	२२
२१—विश्व भी हो जाये प्रतिकूल !	२३
२२—खेल तुम्हारा बड़ा निराला ।	२४
२३—चन्द्रगुप्त भी है अपमानित ।	२५
२४—आज समय है रहा पुकार ।	२६
२५—यह असफलता तो हार नहीं !	२७
२६—जीवन में यदि शाप न हो ;	२८
२७—बम सफल योजना राजनीति का बल है ।	२९
२८—मैंने हार नहीं पहचानी किंतु न जय भी पाई ।	३०
२९—इतिहास लिखा जब भी इस युग का जाये ,	३१
३०—यह सक्रामक काल है ।	३२
३१—चारों ओर प्रलय का घेरा !	३३
३२—सिकंदर फिर भी बहुत महान !	३४
३३—अस्त एक हो रहा मितारा ,	३५
३४—मोये राजकुमारो जागो !	३६
३५—आर्य वन नहीं मकेगे दाम !	३७
३६—अजब बात है !	३८
३७—चल-चित्र सदृश इतिहास बदलता जाता !	३९
३८—नारी फिर की एक पहेली	४१
३९—प्रेम पथ पर कब प्रकाश है !	४२
४०—मैं कुरूप हूँ ।	४३
४१—है मरु में मधुमाम न आता ।	४४
४२—मोह अभी भी कुछ क्या बाकी ?	४५
४३—आधी धूप, आधी छाह ।	४६

(ज)

४४—भला हुआ जो मुड़ा न पथ पर ।	४७
४५—यह लख कर मैं पड़ित भी हूँ	४८
४६—कितनी दूर विहान ?	४९
४७—है मौन लक्ष्य गतिवान राह ।	५०
४८—एक के बाद एक सघर्ष ।	५१
४९—कभी सफलता कभी पराजय	५२
५०—जिस तरह से भी कटे दिन काटना चल ।	५३
५१—नित्य उदय के पूर्व अंधेरा ।	५४
५२—तब कही भाग्य में परिवर्तन होता है ।	५५
५३—शान्ति ध्येय किन्तु आज क्रांति की राह है ।	५६
५४—यहाँ सघटन में ही बल है ।	५७
५५—एक-एक में मिल कर ग्यारह ।	५८
५६—पूरव से आ रहा सवेरा ।	५९
५७—“नहीं प्रति गिरि में है मार्गिक्य”	६०
५८—मैं हत्याग ?	६१
५९—पर्वतक ।	६२
६०—साधन से फल कही बड़ा है ।	६३
६१—कर्म का मतलब ही है कर्म ।	६४
६२—उदित सूर्य प्रगाम ।	६५
६३—आ गई उदय किरण ।	६६
६४—राज विजय का दिवस मनाओ ।	६७
६५—मन का यह क्रम सतत, मनातन ।	६८
६६—है सामनीति ही रहनी दाये कर में ,	६९
६७—है राजनीति भी अथनीति की दासी	७०
६८—जितना जितना मैंने निज को बतलाया	७१
६९—मेरे जीवन के स्वप्न अधूरे अब भी ।	७२
७०—तुम डाल-डाल मैं पात-पात ।	७३

(भू)

७१—मेरा मस्तक नहीं भुकाओ ।	७४
७२—भेदनीति कुछ काम न देगी ।	७५
७३—बोल ! अरी कुछ मुद्रा बोल !	७६
७४—मिट्टी से लिपटा है.....	७७
७५—संगठन ही शक्ति ।	७८
७६—नया नहीं पथ मेरा ।	७९
७७—जहाँ भी, जिस तरफ भी बढ	८०
७८—भरा हुआ विशाल युद्ध-क्षेत्र...	८१
७९—उस तट पर यूनानी सेना ।	८२
८०—वीर सिकंदर के अनुयायी !	८३
८१—हेलन ! यवन देश की, रानी ।	८४
८२—जग ने नाहक ही कहा मुझे युग-दृष्टा ।	८५
८३—पथ कितना शेष.....	८६
८४—यह कैसा जीवन ?	८७
८५—जगा क्यों सहसा आज विराग ?	८८
८६—चंद्रगुप्त !	८९
८७—जब बसंत से मोह नहीं...	९०
८८—जाने क्या इतिहास करेगा !	९१
८९—व्यर्थ याद आता जीवन.....	९२
९०—असंतोष में रहा किंतु संतोष.....	९३
९१—पशुवत बीता जीवन !	९४
९२—सूरज को दिन रोक न पाया ।	९५
९३—कर न अंतिम श्वास अब उपहास !	९६

(स्वगत)

विष्णु तीनों लोकों के नाथ ,
उन्हीं को करके त्रिनय प्रणाम ;
शास्त्र दर्शन का ले निष्कर्ष ,
सुनाऊंगा गाथा अविराम ।

ध्येय है एक, लोक - कल्याण ,
वृद्धि पाये जन मन का ज्ञान ;
क्यों कि स्वयमेव ज्ञान है ब्रह्म ,
ब्रह्म की मर्यादा भगवान ।

आत्म - विश्लेषण पुण्य अभीष्ट ,
आत्म - विज्ञापन करना पाप ;
आज अपने अंतर को खोल ,
किया हलका अपना सताप ।

नहीं यह दोषों पर परिधान ,
नहीं यह भूलों का उपचार ;
विसर्जन बढ़ता आता पाप ,
शेष पथ पर अब पग दो चार ।

कहूँ ? कह दूँ ; कह डालूँ शीघ्र ,
क्षीण होते जाते हैं प्राण ;
और इसके होते ही पूर्ण ,
बुला लेना मुझको भगवान ।

यह तक्षशिला के बाहर मेरा प्रथम चरण ।

हिल पड़े विटप के पात
नीड़ भयभीत हुए ,
कुछ देर बाद, अलियों-
कलियों के गीत हुये ,

रुक गया पूर्व से आने वाला मुग्ध - पवन ।
यह तक्षशिला के बाहर मेरा प्रथम चरण ।

पथ की धुंधली सी ज्योति
तिमिर मे लीन हुई ,
सम्मुख आ कर के खड़ी
समस्या एक नई ,

बन एक पहेली सदृश गये निर्भोक यवन ।
यह तक्षशिला के बाहर मेरा प्रथम चरण ।

तांडव की क्रीड़ा-भूमि मगध ,
व्याकुल बिहार ,
मानव हैं अस्त-व्यस्त ,
पचनद की पुकार ,

पर नहीं कहीं से आती दिखती उदय-किरण ।
यह तक्षशिला के बाहर मेरा प्रथम चरण ।

बौद्धों का नैतिक ह्रास
 जैन है तद्भारत ,
 है शेषनाग के सदृश
 ब्राह्मण धर्म - विरत ,
 कर रहा प्रतीक्षा उत्सुक धार्मिक आंदोलन ।
 यह तक्षशिला के बाहर मेरा प्रथम चरण ।

है नियति कह रही
 अरे ब्राह्मण ! चुप न बैठ ,
 संघर्षों मे तू चक्र-
 मुदशन सदृश पैठ ;
 ले पांचजन्य कर कुटिल भाग्य का संचालन ।
 यह तक्षशिला के बाहर मेरा प्रथम चरण ।

जय ! जय ! भारत के सिंह द्वार !

हैं हिन्दूकुश इसका सहचर ,
 सरक्षक है हिमगिरि सुन्दर ,
 अभिनदन करती है पांचों सरिताये मगल ध्वनि उचार ।
 जय ! जय ! भारत के सिंह द्वार !

पजाब भूमि के भाग्य - कक्ष ,
 उत्तर - पश्चिम के सुदृढ़ वक्ष ,
 इतिहास तुम्हारा अनुगत है, भूगोल रहा तुमको निहार ।
 जय ! जय ! भारत के सिंह द्वार !

तुम सबल रहों हे देश - प्राण ,
 वेदों के आश्रय, अमर-ज्ञान ,
 युग-युग स्वदेश की सस्कृति का करते जाओ जग में प्रसार ।
 जय ! जय ! भारत के सिंह द्वार ।

पावन तक्षशिला !

जिसने पशु को देव बनाया,
जिसकी यह वरदायी काया,
छूकर एक बार तो पत्थर का भी हृदय हिला ।
पावन तक्षशिला !

वेद, संहिता, उपनिषदों को,
दिया मनुज के लघु उर में बो,
स्वर को सनते ही मिट्टी का कण बन समन खिला ।
पावन तक्षशिला !

उसने ही मुझको हँ पाला,
पिला स्नेह अमृत का प्याला,
आज इसी के प्रण को पूरा करने को निकला ।
पावन तक्षशिला !

अकेला चला रे ।

गगन चूस कर रात से कर बहाना ,
 तनिक देख लो चाँद का मुस्कराना ;
 खड़े घेर कर तारकों के बटोही ,
 अभी तक खड़ी चाँदनी भी न मोई ;
 नहीं रुक सका और अज्ञात पथ पर
 अकेला चला रे ।

उषा ने मधुर प्रेम का जाल डाला ,
 भरा व्योम भू पर मृन्हला उजाला ;
 प्रणय से भरी वायु मुकुमार डोली ,
 सरम आस्र पर कोकिला कूक बोली ;
 नही रवि का और द्रुत-वेग रथ पर
 अकेला चला रे ।

मिले राह मे तुंग-गिरि, शृगमाला ,
 भविष्यत खड़ा ओढ़ के वस्त्र काला ;
 बड़ी देर तक था नियति ने मनाया ,
 नहीं काल गति विश्व भी रोक पाया ;
 अजब बात कह कर, अजब गीत गाकर
 अकेला चला रे !

मेरा पथ !

मेरा पथ तममय सुनसान ,
है पाथेय लोक - कल्याण ,
एक कठिन व्रत, एक शपथ ;
मेरा पथ !

मेरा पद !

हिमगिरी सा अविचल निर्भर ,
ज्यों साहस मे निश्चित जय ,
वामन के पग सदृश विशद ;
मेरा पद !

मेरा मन !

ध्रुवतारा सा अडिग, अचल ,
सिंधु लहर सा व्यग्र, सबल ,
जिसमे अंकित जन जीवन ;
मेरा मन !

मेरी गति !

मेरी गति अविकल अविराम ,
भाव - शून्य, सत्वर, निष्काम ,
जिसकी गति है स्वयं नियति ;
मेरी गति !

मेरा ध्येय !

बहुत कठिन पर बहुत सुगम ,
बहुत स्वच्छ, पर बहुत विषम ,
नहीं प्राप्ति का वाँछित श्रेय ;
मेरा ध्येय !

नहीं वह बचपन आये याद
जहाँ पर मस्ती का मकरद ;
बुलाता रहता था अनजान
भाव के अगणित अलि स्वच्छंद ।

पिता माँ का मनमोहक प्यार
और गुरु का मगल आशीष ;
अभी भी जब आता है ध्यान
विनय से भुक जाता है शीस ।

हृदय के वे अस्फुट अरमान
जिन्हें अनुभव ने किया मलीन ;
लक्ष्य की अविकल सतत पुकार
हुई है सहसा क्रमशः क्षीण ।

शांत अब होजा सुस्मृति, शांत ,
नहीं अब कुछ भी तेरे पास ;
बुला ले जिससे अपने आप
बाल्य-कुसुमों का मधुर सुहास ।

लौट जा वापस, लौट अतीत ;
और आ वर्तमान, आ पास ;
अरे पतझर ! तू है अभिराम
वहाँ पर जहाँ नहीं मधुमास ।

तिमिर से भरा भविष्यत चेत
 दूर रह अभी, अभी रह दूर ;
 अभी तो अर्ध-निशा का तत्र
 कल्पना से भी दूर, सुदूर ।

प्रभो ! पहले कर तुम्हे प्रणाम
 नये पथ पर बढ़ता हूँ मौन ;
 भौंकता ऊपर से आकाश
 पूछता, अरे ' प्रवासी कौन ?

यही है पावन जन्मस्थल !

यहीं बीते जीवन के अरुण-
 प्रहर चिर-मंगलमय सामोद ,
 बाल्य-क्रीड़ा की सुन्दर भूमि
 और माता की कोमल गोद ,
 अभी भी स्मृति के शतदल बीच छिपा रहता है मन का अलि ।
 यही है पावन जन्मस्थल !

कहाँ पर पिता चणक का धाम ?
 कहाँ ब्राह्मण की पर्ण-कुटीर ?
 यहाँ तो भवन हुये निर्माण
 जिन्हे बाँधे दृढ़तर प्राचीर ,
 काल की वेदी पर वे स्वप्न हो गये हैं सहसा ही बलि !
 यही है पावन जन्मस्थल !

यहाँ पर मरुथल में पतझार
 और वैभव में दुखद विलास ,
 हो रहा यहाँ अराजक राज्य
 बुझ रही यहाँ गरल से प्यास ,
 देवती सर्वनाश का हाल यहाँ काँटों पर जीवन-कलि ।
 यही है पावन जन्मस्थल !

पिता तुम पर मुझको अभिमान ।

वृक्ष तुम, मैं हूँ उसकी डाल ,

बहुत लघु मैं, तुम बहुत विशाल ,

आज भी करता है इतिहास तुम्हारा पावन गौरव-गान ।

पिता तुम पर मुझको अभिमान ।

वेद - विद तुम, निर्भय पांडित्य ,

याद आता हूँ मुझको नित्य ,

सोचता हूँ मैं यह किस भाँति सुरक्षित रख पाऊँ सम्मान ।

पिता तुम पर मुझको अभिमान ।

बहुत ही उज्ज्वल दिव्य अतीत ,

काल भी जिमको सका न जीत ,

अलकृत जिसकी पाकर छाप समय की वेदी का पाषाण ।

पिता तुम पर मुझको अभिमान ।

बंदन , अभिनंदन ।

जन्म जन्म तक मिले आपके
पद-रज का पूजन ।
बंदन , अभिनंदन ।

बड़े प्रेम से पाठ पढ़ाये ,
मेरे सब अपराध भुलाये
सदा दिव्य आशिष बरसाये ,
स्वयं पिता तुम बन कर आये ,
दिया ज्ञान के माथ दिव्य दर्शन का सजीवन ।
बंदन , अभिनंदन ।

कष्ट, शोक आ यहाँ न पाते ,
भय खा खड़े दूर रह जाते ,
सद्, चित्त, आनंद तत्र लुटाते ,
आप रहे जीवन सरसाते ,
वेद, शास्त्र, उपनिषद, संहिता का अमृत वर्षण ।
बंदन , अभिनंदन ।

जहाँ स्वयं जीवन ही सयम ,
पास न आते है संशय भ्रम ,
जो कि ज्ञान, तप का है उद्गम ,
सत्यं, शिवं, सुन्दर का क्रम .
बड़ा कठिन है कभी भूलना यह प्यारा नदन ।
बंदन , अभिनंदन ।

ब्राह्मण पैदल जा न सकेगा राजभवन तक ।

यह भूपति, सब इसमे नीचे ,
निज वंभव मे आँखे मीचे ,

निश्चय हूँ कोई मोड़ नहीं पायेगा मीठे से मीठा आकर्षण तक ।
ब्राह्मण पैदल जा न सकेगा राजभवन तक ।

जाये भी तो क्यों वह जाये ?

श्रोत्रिय निज को व्यर्थ भुकाये ,
उसको गौरव दे न सकेगा नृप का उसको आमंत्रण तक ।
ब्राह्मण पैदल जा न सकेगा राजभवन तक ।

यदि जायेगा तो गुरु के घर ,
पावन पद रज को मिर पर घर ,

पुण्य स्वर्ग का राजद्वार हूँ जिस प्रिय पथ का प्रति पाहन तक ।
ब्राह्मण पैदल जा न सकेगा राजभवन तक ।

क्यों इतना अपमान ?

मेरा काला रूप देख कर ,
 गया वार निर्भय नृप भी डर ,
 रहा देखता मुझको ही वह धूर - धूर श्रीमान ।
 क्यों इतना अपमान ?

फिर जब मुझको पास ब्लाया ,
 मैंने निज कुल गृह बतलाया ,
 पशुवत हिंसा से पागल हो चीख पड़ा नादान ।
 क्यों इतना अपमान ?

किया मुझे अनुचर ने बाहर ,
 देख दृष्य मुस्काये कुछ नर ,
 नहीं किसी को मेरे बल का हुआ अभी अनुमान ।
 क्यों इतना अपमान ?

तब तक शिखा नहीं बाँधूंगा !
 जब तक नद वश का कण भी
 हूँ श्रवणी पर शेष ,
 जब तक मुक्त न नद - दैत्य से
 पावन पूर्व प्रदेश ;

तब तक मैं अंगार हाथ पर रख कर के निज वृत्त साधूंगा !
 तब तक शिखा नहीं बाँधूंगा !

भू देवों का शाप कभी भी
 जग मे व्यर्थ नहीं जाता है ,
 ब्राह्मण कल्प - वृक्ष श्रवणी पर ,
 वह रक्षक, भक्षक, त्राता है ;

तेरे कुटिल व्यंग का रण मे अग्नि वाण से बदला लूंगा !
 तब तक शिखा नहीं बाँधूंगा !

तेरी भग्न चिता पर मेरी
 वेणी का श्रृंगार सजेगा ,
 तेरे अस्थि - पज पर मेरी
 सत्ता का आधार सधेगा

यह मन्तव्य नहीं हे मैं तो इसको दृढ हुंकार कहूंगा !
 तब तक शिखा नहीं बाँधूंगा !

जय जय शिव शभू जय हर हर ।
 अर्ध-नग्न तन राख लपेटे ,
 आगे पीछे मर्प समेटे ,
 आदि सृष्टि से अक्षय, अक्षर ।
 जय जय शिव शभू जय हर हर ।

कालकूट दे दो चुन्लू भर ,
 गुप्त चन्द्र आयें स्वरूप धर ,
 ज्वालाये बरसा दे अबर ।
 जय जय शिव शभू जय हर हर ।

आज नाश निर्माण बलाता ,
 समय स्वयं क्रोध बन आता ,
 आज जगादी निज तांडव स्वर ।
 जय जय शिव शभू जय हर हर ।

हहर , हहर बह !

तेरे तट पर
खड़ा यह नगर ,
आंचल में भर
भय आडबर

ऐसी एक विषम करवट ले जिससे जाये यह सब कुछ ढह !
हहर , हहर बह !

धर्म सनातन ,
परम पुरातन ;
भूले सब जन ,
शूद्र , ब्राह्मण ;

असहनीय बन गये ; बहुत सह चुकी, नहीं तू अब यह सब सह !
हहर , हहर बह !

मैं हूँ शंकर
उतर , अब उतर ;
घन गर्जन कर
बन प्रलयकर ;

उथल पुथल करदे निज तट को, बदिन नारी सी न पड़ी रह !
हहर , हहर बह !



ब्राह्मण मे विष भी अमृत भी ।

श्रौरोँ को डस भी सकता है ,
 राहु सदृश ग्रस भी सकता है ;
 आँल के सम फँस भी सकता है ,
 दे जीवन रस भी सकता है ;

अपने मन के आगे झुकता, किंतु झुकाता कठिन नियति भी ।

ब्राह्मण मे विष भी, अमृत भी ।

प्रायः हिमगिरि सदृश अचल है ,
 ज्ञात न उसको अपना बल है ;
 दुनियां उसको लेती छल है ,
 फिर भी व्यग गया यदि खल है ;

शेषनाग बन मचल पड़ेगा हिंसा को , होकर आहत भी ।

ब्राह्मण मे विष भी, अमृत भी ।

चदन मे लग आग गई है ,
 शांति दूर पर भाग गई है ;
 धैर्य शक्ति भी त्याग गई है ,
 देकर तांडव राग गई है ;

अब न चरण को रोक सकेगे वाधा के अगणित पर्वत भी ।

ब्राह्मण मे विष भी, अमृत भी ।

यह वर्णाश्रम - पथ के रोड़े !

यह है निज को बौद्ध बताते ,

नहीं बद्धि हम इनमें पाते ,

श्रेय इन्हें हिमक पशुओं के मस्तक इनने नहीं मरोड़े !

यह वर्णाश्रम - पथ के रोड़े !

जगह जगह पर मठ बनवाये ,

भिक्षु, भिक्षुणी वहाँ बसाये ,

जहाँ स्वय ही गति के ऊपर खड़े धर्म का पर्दा छोड़े !

यह वर्णाश्रम - पथ के रोड़े !

मैं इनसे भी टक्कर लूँगा ,

दुनियाँ को यह दिखला दूँगा ,

केवल अह-तुष्टि हित इनने सतत सनातन निर्णय तोड़े !

यह वर्णाश्रम - पथ के रोड़े !

बुद्ध शरण गच्छामि !

शरण उन्हें जिनको कुछ भय हो ,
जिनका नहीं आत्म निर्णय हो ;
केवल अधकार विस्मय हो ,
अर्पण से रक्षा का क्रय हो ;

इसीलिये तो बौद्ध कह रहे ;

बुद्ध शरण गच्छामि !

इनमे अपनी शक्ति नहीं है ,
प्रभु के प्रति भी भक्ति नहीं है ,
मोह - जाल से मुक्ति नहीं है ,

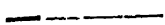
इसीलिये तो बौद्ध कह रहे ;

सद्य शरण गच्छामि !

इन्हें धर्म का ज्ञान नहीं है ,
कर्म सके पहचान नहीं है ,

इसीलिये तो बौद्ध कह रहे ;

धर्म शरण गच्छामि !



भावुकता ही धर्म नहीं है ।

जैन, भाव पथ के अनुगामी ,

भाव सदा ही इनके स्वामी ,

भावुकता इनका गौरव है, इस पर इनको शर्म नहीं है ।

भावुकता ही धर्म नहीं है ।

धर्म , कर्म का और स्वत्व का ,

सम्मिश्रण 'है' युगल तत्व का ,

आत्म-चेतना इसका बल है, निर्बल आहें मर्म नहीं है ।

भावुकता ही धर्म नहीं है ।

ध्येय चरम उत्थान सत्य का ,

और दमन भी नीच कृत्य का ,

ग्रह उत्सर्ग मनुज का, मन का; भावुकता ही धर्म नहीं है ।

भावुकता ही धर्म नहीं है ।



ब्राह्मण धर्म अनंत, अनश्वर ।

जिसने सदा सत्य को पूजा ,

जिसने धर्म - कृत्य को पूजा ,

जो मानवता का अभिभावक, जो जग-जीवन का विश्वम्भर ।

ब्राह्मण धर्म अनंत, अनश्वर ।

स्वयं विष्णु जिसके सरक्षक ,

शिव, ब्रह्मा जिसके आराधक ,

मुखरित जिसके स्वत्व तत्व में सत्य और शिव, सुन्दर का स्वर ।

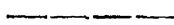
ब्राह्मण धर्म अनंत, अनश्वर ।

गर्व मुझे है मैं ब्राह्मण हूँ ,

आत्मा हूँ , मानव हूँ , मन हूँ ,

जुटा रहूँगा इसकी रक्षा में तन मन से मैं जीवन भर !

ब्राह्मण धर्म अनंत, अनश्वर !



विश्व भी हो जाये प्रतिकूल !

किंतु यह पद जब अपना पथ ,
गये हैं पहले से पहचान ,
बुद्धि ने मन पर कर अधिकार
लिया है कोई निश्चय ठान ;

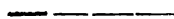
व्यर्थ दिखलाती है अब त्रास, सामने आकर उड़ती धूल !
विश्व भी हो जाये प्रतिकूल !

बादलों की घुंघराली माल
सूर्य को क्या पाती है रोक ?
सदा फैला किरणों के हाथ
द्योम सागर को सका न सोख ;

बदल देगा निज पथ चाणक्य, परिजनों का यह भ्रम निर्मूल !
विश्व भी हो जाये प्रतिकूल !

फल का जिसको हुआ न ज्ञान
डराता क्यों है उसको शूल ,
आत्म - निश्चय ही जिसका पथ
नहीं कर सकता है वह भूल ;

सिंधु का अतस जिसका लक्ष्य, बुलाता क्यों है उसको कूल ?
विश्व भी हो जाये प्रतिकूल !



खेल तुम्हारा बड़ा निराला ।

ग्वाल - बाल के साथ खेल कर ,

वन, पशु - पक्षी सग मेल कर ,

कितना स्वाभाविक सा तुमने राजा का अभिनय कर डाला ।

खेल तुम्हारा बड़ा निराला ।

हाँ ! हाँ ! इन हाथों की रेखा ,

को जब एक झलक ही देखा ,

जान पड़ रहा राज - पुत्र को इन ग्रामीण जनों ने पाला ।

खेल तुम्हारा बड़ा निराला ।

जो कहता, कर दिखला दूँगा ,

तुम्हें छत्रपति बनवा दूँगा ,

समझा दूँगा नृपति नंद को कैसा होता ब्राह्मण काला ।

खेल तुम्हारा बड़ा निराला ।



चद्रगुप्त भी है अपमानित ।

बाल्यकाल में नदराज ने ,

उसके इस लोलुप समाज ने ,

पहुँचाई है उसे मानसिक , शारीरिक , सामाजिक क्षय, क्षति ।

चद्रगुप्त भी है अपमानित ।

पड़ा पिता है बंदीगृह में

जो कि निपुण जय, भय-विग्रह में,

साधारण पशुओं सा जीवन काट रहा अविजित सेनापति ।

चद्रगुप्त भी है अपमानित ।

बदला लेने को वह व्याकुल ,

और उसी हित में भी चचल ,

बस केवल है एक प्रतीक्षा आयेगी किस दिवस समय गति ।

चद्रगुप्त भी है अपमानित

आज समय है रहा पुकार !
 चद्रगुप्त अब हो तैयार !!
 सभी ओर फैले हैं पाप ,
 है अन्याय, अहित, अभिशाप ,
 सभी ओर है हाहाकार !
 चद्रगुप्त अब हो तैयार !

श्रोत्रिय का होता अपमान ,
 वीर नहीं पाते सम्मान ,
 है हिंसा का विषम प्रसार !
 चद्रगुप्त अब हो तैयार !

रवि बन दुष्टों का कर नाश ,
 शशि बन कर दे शांत प्रकाश ,
 मानवता का कर सचार !
 चद्रगुप्त अब हो तैयार !

मगध आज है तेरे हाथ
 बनकर के अनाथ का नाथ
 नौका पहुँचा दे उस पार !
 चंद्रगुप्त अब हो तैयार !
 आज समय है रहा पुकार !

यह असफलता तो हार नहीं !

जीवन के पथ पर एक नहीं ,
दो नहीं, अनेकों बाधाये ;
पर उससे भी हैं बहुत अधिक
जय पा लेने की आशाये ;

वरदान नहीं उनको मिलता, है शाप जिन्हे स्वीकार नहीं !
यह असफलता तो हार नहीं !

बिखरी ससृति के प्रांगण मे
है अगणित कर्मों की कृतियां .
जिनको है पुण्य बना देती
श्वामों की सचित श्राद्धतियां ,

क्या वर्तमान मे तू भविष्य की सुनती कभी प्रकार नहीं !
यह असफलता तो हार नहीं !

आ फिर लड़, फिर गिर , इस क्रम को
तो तू होने दे बंद नहीं ;
तू इन दो एक पराजय को
कर ले पग का प्रतिबध नहीं ;

गति की नौका को रोक सकी कोई यति की मझधार नहीं !
यह असफलता तो हार नहीं !



जीवन मे यदि शाप न हों ; वरदान कहाँ से आये ?

हिमगिरि की छाती मे पत्थर ,

बालू के ही तट पर सागर ,

मृत्यु नहीं यदि हो तो नूतन प्राण कहाँ से आये ?

जीवन मे यदि शाप न हों , वरदान कहाँ से आये ?

रजनी है प्रातः की जननी ,

नभ के लिये व्योम है अरुणी ,

आह न हो कवि मे तो नूतन गान कहाँ से आये ?

जीवन मे यदि शाप न हों , वरदान कहाँ से आये ?

हार स्वयं जय को देती बल ,

भाग्य स्वयं ही कर्मों का फल ,

विष न रहे तो अमृत की पहचान कहाँ से आये ?

जीवन मे यदि शाप न हों , वरदान कहाँ से आये ?

बस सफल योजना राजनीति का बल है

है मुझ से ज्यादा कुशल ग्राम की बाला .
जिसने मुझको भी पाठ पढ़ा ही डाला ;
निज सुत को लखकर मध्य भाग को प्रसते ,
माता बोली बच्चों से हसते हसते ;
'तू चद्रगुप्त के ही समान पागल है ,
बस सफल योजना राजनीति का बल है ।

बालक कुछ समझ न पाया रुक कर बोला ,
'यह कैसे माँ ?' माँ न रहस्य तब खोला ;
'सोमा तज कर वह केन्द्र बिंदु पर लड़ता ,
बाहर रिपुदल को छोड़ बीच में फंसता ;
आक्रमण कर रहा चहुँदिसि से रिपुदल है ।
बस सफल योजना राजनीति का बल है ।

इससे ही वह असफल होता जाता है ,
निज असफलता का भेद नहीं पाता है ,
वर्षों का अनुभव जो न मुझे दे पाया ,
वह भोली-भाली नारी ने समझाया ;
यह शिक्षा ही अब मेरे हित सबल है ।
बस सफल योजना राजनीति का बल है ।

मंने हार नहीं पहचानी किंतु न जय भी पाई ।

हार मुझे मिलती भी कैसे
मिलती मानवता मिट जाती ,
युग युग के दभी अमरो को
बोलो वह किस तरह हराती ;

मेरे अविचल कर्मों को तो हार न लय कर पाई ।
मंने हार नहीं पहचानी किंतु न जय भी पाई ।

जय का मिलना बड़ा कठिन था
मिलती तो भू नभ से मिलती ;
फिर कैसे ससृति जीवन की
निर्ममता से क्रीड़ा करती ;

किया बहुत सघर्ष न फल की चाह कभी अपनाई ।
मंने हार नहीं पहचानी किंतु न जय भी पाई ।

हार जीत से बहुत दूर में
आदि अत से मुक्त राह हूँ ,
छू न जिसे कोई भी पाया ,
मं ऐसी ही लिए चाह हूँ ,

चलती रही सदा पर मेरी आशा भरी लड़ाई ।
मंने हार नहीं पहचानी किंतु न जय भी पाई ।

इतिहास लिखा जब भी इस युग का जाये ,
 लिखने वाला यह नहीं भूलने पाये ।
 थी राजनीति अति विषम, धर्म चंचल था ,
 बस यहाँ विजय को कूट नीति का बल था ।
 जय पाने वाला यहाँ स्वयं हारा था ,
 साम्राज्य धर्म के लिये एक कारा था ।

हिंसा करती थी राज्य अहिंसा रोती ,
 थे बद्ध गिन रहे नभ के धूमिल मोती ।
 ब्राह्मण को उपजा क्रोध , वीरता जागी ,
 पा चंद्रगुप्त युग बना स्वयं बड़ भागी ।
 थी मृत्यु किसी को जीवन दान किसी को ,
 संघर्ष किसी का था कल्याण किसी को ।

अविराम चला कुछ क्षण इतिहास रुका फिर ,
 था राजनीति के आगे हार भुका फिर ।
 तब महाक्रांति की वीणा ने स्वर छेड़ा
 था राजमार्ग सा वन पथ टेढ़ा मेढ़ा ।
 पौरुष के आगे परंपरा भी हारी ,
 संभलो ! संभलो ! अब तांडव की तैयारी !

सिकंदर फिर भी बहुत महान !

पचनद में भर कर अवसाद ,
 शांत कर रण - जय का उन्माद ,
 गया वापिस कुछ ही दिन बाद ,
 रखेगा पर सदियों तक याद उसे यह उसका विजय प्रमाण !
 सिकंदर फिर भी बहुत महान !

ज्ञात है मुझे न था वह क्रूर ,
 न था वह मानवता से दूर ,
 किंतु यह निश्चित वह था शूर ,
 पुजारी वीरों का कौटिल्य वीरता लेता है पहचान !
 सिकंदर फिर भी बहुत महान !

तुम्हारे जीवन का इतिहास
 विश्व को देगा एक प्रकाश ,
 नया संघर्ष , नया विश्वास ,
 रखेंगे यह दोनों ही देश तुम्हारी इस गुरुता का ध्यान !
 सिकंदर फिर भी बहुत महान !

अस्त एक हो रहा सितारा, एक उदय होता है !

वह पौरुष का सूर्य-सिकंदर
हं पश्चिम में ढलता ,
रोता है मध्यान्ह देखकर
सध्या की आकुलता ;

मांभी को मिल रहा किनारा, लख सागर रोना है !
अस्त एक हो रहा सितारा, एक उदय होता है !

इधर चंद्र आ रहा चीरता
अधकार अबर का,
अनाचार के हेतु तीसरा
नेत्र खुला शंकर का ;

टूट गई रजनी की कारा, उदय बीज बोता है ।
अस्त एक हो रहा सितारा, एक उदय होता है !

इस इतिहास पृष्ठ पर सूरज
चंद्र साथ में आये ,
इसीलिए संघर्ष द्रोह ,
हिंसा स्वदेश पर छाये ;

है नवयुग ने हाथ पसारा, पाया जो खोता है !
अस्त एक हो रहा सितारा, एक उदय होता है !



अजब बात है !

आँख मींच कर शासक चलते
 राजनीति कंधे पर साधे ,
 जन - हित की व्यापकता को वे
 रहते स्वार्थ - रज्जु से बाँधे
 सत्य, न्याय की छाती पर तो होता प्रति दिन पदाघात है ।
 अजब बात है !

नहीं सदा ही रह पाती है
 हँसते सूरज की दोपहरी ,
 पथरीली गिरि माला का उर
 चौर भूमि पर बहती लहरी ,
 निश्चित संध्या भी यदि निश्चित फूलों पर हँसता प्रभात है ।
 अजब बात है !

ओ शकटार मनस्वी तुमने
 पृष्ठ नया जीवन का खोला ,
 जिस पर अक्षर लिख कर ही युग
 परिवर्तन के स्वर में बोला ;
 आज फूटने को व्याकुल श्रोत्रिय की कहरणा का प्रपात है ।
 अजब बात है !

चल चित्र सदृश इतिहास बदलता जाता !

शकटार देव का गृह

वह सुंदर बाला ,

प्रतिदिन वेदों का पाठ

नाम की माला ,

उसका क्षण भर भी ध्यान

जभी आता है ,

होता तममय पट पर

पुनीत उजियाला ;

चाहता भुलाना पर न भूल जो पाता !

चल चित्र सदृश इतिहास बदलता जाता !

फिर तक्षशिला का गुरुकुल

शिष्यों का दल ,

जिनके प्रण देते राजनीति

को थे बल ,

उनमें से कुछ को मैंने

था अपनाया ,

समझा मैं उनको लक्ष्य—

—पूर्ति का संबल ,

अब भी उनकी स्मृति में प्रभात मुस्काता !

चल चित्र सदृश इतिहास बदलता जाता !

वह अलक्षंद्र की विजय
 पतन पोरस का ,
 वह अधः पतन भारत के
 पुण्य सुयश का ,
 पाटलीपुत्र मे गृह-विग्रह
 की ज्वाला ,
 फिर मलिन चित्र धननद-
 -मद पौरुष का ,
 तब सूत्रधार बन चंद्रगुप्त हे आता ।
 चल चित्र सदृश इतिहास बदलता जाता !

नारी फिर भी एक । लो !

एक चक्र हूँ एक भवर है ,

एक प्रतीक्षा, एक डगर हूँ ,

वह जिस पर जितने भी चलने उतनी होती नवल, नयेली ।

नारा फिर भी एक पहेली ।

यह मंदिर की प्रतिमा भी हूँ ,

पूजा की गुरु गरिमा भी हूँ ,

जिसकी छाती पर पद रख कर भक्त बड़े यह हूँ वह देहली ।

नारी फिर भी एक पहेली ।

यह हूँ मन-वेणुक की तद्रा ,

यह जगने-वालों की निद्रा ,

खेल खिलाती रही पुरुष को और पुरुष के हाथों खेली ।

नारी फिर भी एक पहेली ।

प्रेम पथ पर कब प्रकाश है !

मे तो इस पर चला नहीं हूँ ,

चलने का अरमान नहीं है ;

जो चलते उनका भी पूरा नहीं कभी होता प्रयास है ।

प्रेम पथ पर कब प्रकाश है !

इस पथ पर चलन वालों को ,

कर्तव्यों का ज्ञान न होता ,

भावों की भ्रमा मे तन की इच्छा करती अट्टहास है ।

प्रेम पथ पर कब प्रकाश है !

जीवन का विष है यह जिसको ,

मानव ने अमृत समझा है ,

जग जिसको निर्माण समझता वह केवल होता विनाश है ।

प्रेम पथ पर कब प्रकाश है !

मैं कुरूप हूँ ।

तहीं दूसरे किंतु स्वयं मेरा ही दर्पण मुझसे कहता ,
मैं इच्छा करता हूँ फिर भी, वह विद्रोही शांत न रहता ,
यह विवाद से परे इसी से मैं स्वीकार किये लेता हूँ ।
मैं कुरूप हूँ ।

पर इसमें क्या मेरे तन में बल है, मन में आंदोलन है ,
बुद्धि, बुद्धि का स्वामी हूँ मस्तिष्क ; हठीला मेरा प्रण है ,
मैं मिट्टी के इस अभिनय को अंगीकार किये लेता हूँ ।
मैं कुरूप हूँ ।

इतना ही तो होगा यह सुंदरियाँ मुझको प्यार न देगी ,
अच्छा ही है मोह, वासना, अहं भाव का भार न देगी ,
कह ले मुझ कुरूप विश्व को यह अधिकार दिये देता हूँ ।
मैं कुरूप हूँ ।

है मरु मे मधुमास न आता ।

आता तो आकर क्या करता ,
 कैसे रेती मे रस भरता ,
 कैसे मन के मूनेपन मे अपने मन का मीन बुलाता ।
 है मरु मे मधुमास न आता ।

शूलो मे मकरद न रहता
 है पतझर मे मलय न वहता ,
 तममय रजनी मे चकोर कब चारु चंद्र के है गुण गाता ।
 है मरु मे मधुमास न आता ।

मुझ मे प्यार समाता कैसे
 कोई भी प्रिय आता कैसे ,
 जब मैं प्रतिपल ही रहता हूँ निज जीवन की चिंता सजाता ।
 है मरु मे मधुमास न आता ।

मोह अभी भी क्या कुछ बाकी ?

मैंने पथ पर गूल बिछाये इमी लिये ही,
 कहीं भूल से सुमन न इस पर आ बिछ जाये ;
 मैंने पथ पर धूल उड़ाई इसी लिये ही,
 कोई पागल यहाँ न नदन-वन मरसाये,
 नीरवता शृंगार निशा की ।
 मोह अभी भी क्या कुछ बाकी ?

भूले भटकों को था मैंने लक्ष्य बताया जान बूझ कर,
 इनके पद इस छाती पर होकर जायेंगे ;
 लुटे-लुटाओं को पथरीला वक्ष दिखाया जान बूझ कर,
 एक दिवस ये आकर उससे टकरायेंगे ;
 रहा सदा फिर भी एकाकी ।
 मोह अभी भी क्या कुछ बाकी ?

अब आवश्यक नहीं परीक्षा बयो कि भग्न हूँ,
 उस खडहर सा जिसे भूत-गृह जग कहता है ;
 व्यर्थ सभी हैं छेड़छाड़ अब बयो कि मग्न हूँ,
 उस गिरि सा, जिसके अतर से विष बहता है ;
 कौसी तुमने परिभाषा की ?
 मोह अभी भी क्या कुछ बाकी ?

आधी धूप, आधी छाँह ।

गति के साथ पूर्ण विराम
दिन के साथ धुंधली शाम,
शांति के गमन में ही तो छिपा दिननाथ का उत्साह ।
आधी धूप , आधी छाँह ।

मन पर भार मन में प्यार,
मन की जीत मन की हार,
अधरों पर हठीली हास की रेखा, कर्णतम आह ।
आधी धूप आधी छाँह ।

मेरा लोभ मेरा त्याग,
मेरा मोह और विराग,
दोनों के अनिश्चित रूप में अंकित अनूठी चाह ।
आधी धूप आधी छाँह ।

अब तुम भी गये पहिचान,
अब तुम भी गये हो मान,
मेरे शुष्क जीवन में न गहराई, न उसकी थाह ।
आधी धूप आधी छाँह ।

भला हुआ जो मुड़ा न पथ पर ।

मैं मुड़ता तो जग मुड़ जाता ,

तो फिर यह सब कौन बताता ,

केवल सबल करों पर जन हित, जन-मन की अभिलाषा निर्भर ।

भला हुआ जो मुड़ा न पथ पर ।

जग ने मुझे कहा दुर्वासा ,

पर मैंने अपनी परिभाषा

यह की ; जग के कालकूट को पीने वाला मैं हूँ शंकर ।

भला हुआ जो मुड़ा न पथ पर ।

लाखों चलने वाले जिस पर ,

उस पर होगा भी किसको डर ,

किंतु चले तो उस पर जिस पर गिरने से डरता है पत्थर ।

भला हुआ जो मुड़ा न पथ पर ।

यह लखकर मैं पंडित भी हूँ और वीर भी
कुछ हँसते हैं, कुछ मुस्काते ।

मानों सबने ही यह माना ,
बुद्धि और तन दोनो पाना ,
अहं भाव का एक बहाना ,
पर मैं दोनो ही पाये कोई समझ नहीं है पाते ।
कुछ हँसते हैं, कुछ मुस्काते ।

शक्ति कई, व्यक्तित्व एक है ,
इन सबका राजा विवेक है ,
जो कि एक होकर अनेक है ,
किसका दोष कि नहीं दूसरे अपनी पूरा शक्ति बढ़ाते ।
कुछ हँसते हैं, कुछ मुस्काते ।

मुझे तर्क करना आता है ,
रण करना, लड़ना आता है ,
बढ़ना, रुक अड़ना आता है ,
जिसको जिसकी आवश्यकता है, वे वह गुण मेरा अजमात ।
कुछ हँसते हैं, कुछ मुस्काते ।

कितनी दूर विहान ?

कितनी दूर अभी चलना है ,
 तम से भरे प्रलय के पथ पर ;
 कितनी दूर नीड से बाहर ,
 आते विहगावलि के मृदु स्वर ;
 कितनी दूर उदय-गिरि पर जय, जीवन का निर्माण ?
 कितनी दूर विहान ?

यह न समझना निर्जनता लख ,
 लक्ष्य दूर सुन हार रहा हूँ ;
 सघर्षों का विस्तृत सागर
 कर्मों से कर पार रहा हूँ ;
 अंतरिक्ष से व्यापक पथ का कहो कहाँ अवसान ?
 कितनी दूर विहान ?

कब तक आ भू पर उतरेगा ,
 प्राची का उन्माद अनूठा ;
 कितनी देर रहेगा अब भी
 नभ से उसका बालक रूठा ;
 कितनी देर समय के पथ पर जीवन का वरदान ?
 कितनी दूर विहान ?



है मौन लक्ष्य गतिवान राह ।

इस पर रुकने का नहीं काम ,
 मत ले विराम, मत ले विराम ,
 अपने प्रयत्न की कुंजी से तू खोल भाग्य का बंद कक्ष ।
 गतिवान राह है मौन लक्ष्य ।

कटू सत्यों का सघर्ष भेल ,
 सुखमय स्वप्नों से तू न खेल ,
 अपने पौरुष से ले टटोल तू जीवन का सागर अथाह ।
 है मौन लक्ष्य गतिवान राह ।

तू दाये बाये कुछ न देख ,
 गहता जा सीधी सरल रेख ,
 उस दिन तक, जब तेरी अभिलाषा का फल होतेरे समक्ष ।
 गतिवान राह है मौन लक्ष्य ।

एक के बाद एक संघर्ष ।

हाथ मे है कर्मों को शक्ति ,
 और वाणी मे है अभिव्यक्ति ,
 चरण को प्राप्त हो चुकी मुक्ति ,
 परीक्षा ही करने के हेतु भेजता रूढ़ता है प्रति वर्ष ।
 एक के बाद एक संघर्ष ।

अतुल सागर कितना गंभीर ,
 तुंग हिमगिरि हे कितना धीर ,
 मुग्ध है सीमाहीन समीर ,
 रहेगा अविचल शून्य समान चिरंतन जीवन का उत्कर्ष ।
 एक के बाद एक संघर्ष ।

विजय का कोई नहीं प्रमाण ,
 हार का कितु न आता ध्यान ,
 एक ही मुझे आदि-अवसान ,
 मुझे चिंतित कर सके न क्लेश, मुझे पुलकित कर सका न हर्ष ।
 एक के बाद एक संघर्ष ।

कभी सफलता, कभी पराजय, किन्तु शून्य परिणाम ।
ठहर ! ठहर ! कुछ देर ठहर जा, ओ जीवन की शाम !

जीवन-दिन के साथ ढाल पर हों न हृदय की चाह ,
पद जर्जर हों तो हो जाये, घटे नहीं उत्साह ;
प्रबल, प्रबलतम शत्रु, रहे पर चलता यह सग्राम !
कभी सफलता, कभी पराजय, किन्तु शून्य परिणाम !

कर्मों के प्रति उदासीनता का पशुओं को श्रेय ,
करना, मिटना, मरना, बनना, यह मेरा हे ध्येय ,
पथ थके तो थके किन्तु यह चरण रहें अविराम !
ठहर ! ठहर ! कुछ देर ठहर जा ; ओ जीवन की शाम !

यदि मेरी समाधि पर भी हो सुदृढ़ राष्ट्र निर्माण ,
तो मृत होने को व्याकुल हूँ मेरे पागल प्राण ;
हों अभिलाषा-विटप ढाल पर प्राप्ति-कुसुम अभिराम !
कभी सफलता, कभी पराजय, किन्तु शून्य परिणाम !

जिस तरह से भी कटे दिन काटता चल ।

समय की गति है अनवरत रुक न पाई ,
 आज का स्वागत बना कल की विदाई ;
 है यहाँ प्रत्येक क्षण स्वयमेव सबल ।
 जिस तरह से भी कटे, दिन काटता चल ।

देख नीरवता भरा पथ का अधेरा ,
 तू न ले लेना कहीं पथ में बमेरा ,
 है अमिट कब यह व्यथा के तुंग बादल ।
 जिस तरह से भी कटे, दिन काटता चल ।

है अतीत प्रसुप्त नीरव है भविष्यत ,
 वर्तमान अवश्य है कुछ व्यग्र, आहत ,
 किंतु तेरी साधना मे कम नहीं बल ।
 जिस तरह से भी कटे दिन काटता चल ।

प्रश्न तो है लक्ष्य का, पथ का नहीं है ,
 प्रश्न तो इति का रहा अथ का नहीं है ;
 मुन नियति की सुगंधपगध्वनि, मंजु पायल ।
 जिस तरह से भी कटे दिन काटता चल ।



नित्य उदय के पूर्व अंधेरा ।

अब तक रही चांदनी छिटकी ,

जो फूलों पत्तों पर भटकी ,

लीन हो गई लगा लगा कर नभ के सूनोपन में फेरा ।

नित्य उदय के पूर्व अंधेरा ।

सोने चांदी की लड्डियों को

स्वच्छ, पीत प्रिय पखुड़ियों को ,

इस व्यापक धूमिल चादर ने कसे बड़ी देर तक घेरा ।

नित्य उदय के पूर्व अंधेरा ।

इसमें है मुस्कान निशा की ,

इसमें छिपी हुई है प्राची ,

इसमें छिपा बाल रवि सुन्दर, इसमें ही लय चदा मेरा ।

नित्य उदय के पूर्व अंधेरा ।

तब कहीं भाग्य मे परिवर्तन होता है ।

घन गर्जन होता और चमकती बिजली ,

फिर वायु उमड़ती जैसे अर्नागिन तितली ,

तब शुष्क - धरा का अभिसिचन होता है ।

तब कहीं भाग्य मे परिवर्तन होता है ।

मिटने का भय ही है बनने मे बाधा ,

वह सफल कि जिसने असफलता को साधा ,

पहले विनाश फिर नवल सृजन होता है ।

तब कहीं भाग्य मे परिवर्तन होता है ।

है जीवन का सगीत प्रलय की भाषा ,

श्वासों की सीमा ही प्राणों की आशा ,

जब अग्नि - पुंज ही करुणा - कण होता है ।

तब कहीं भाग्य मे परिवर्तन होता है ।

शांति ध्येय किंतु आज क्रांति की राह है ।

आज लोकवाद एक व्यक्ति के विरोध में ,
न्याय कर रहा यहाँ विवेक आज क्रोध में ,
आज तीर मापता अपार सिधु-थाह है ।
शांति ध्येय किंतु आज क्रांति की राह है ।

विश्व चेतना उदय हुई समाज मौन है ,
धूल बोलती परन्तु स्वर्ग आज मौन है ;
शून्य में जगी विशाल शक्ति हेतु चाह है ।
शांति ध्येय किंतु आज क्रांति की राह है ।

वेदना है आज चंद्र और आसमान में ,
अधकार छूँप गया प्रकाशपुंज ज्ञान में ,
किंतु क्षीण हो गई मनुष्य की कराह है ।
शांति ध्येय किंतु आज क्रांति की राह है ।



यहाँ संघठन में ही है बल ।

एक किरण ही ज्योति न होती ,

तम का भारी भार न खोती ,

किंतु अनेकों मिलकर करती है दिनकर को अविरल, अविकल ।

यहाँ संघठन में ही है बल ।

एक सूत्र रक्षा का बधन ,

कब सघर्षों का आमंत्रण ,

मिल कर उनसे बनी रज्जु, वह करती सबल गजों को निर्बल ।

यहाँ संघठन में ही है बल ।

नर की आत्मा शक्तिहीन है ,

विजित, पराजित है, मलीन है ,

एक रूप जग की आत्मा का परमात्मा अग जग का संबल ।

यहाँ संघठन में ही है बल ।

एक एक से मिलकर ग्यारह ।

मिला पर्वतक चद्रगुप्त से ,
 मानों जाग्रत मिला सुप्त से ,
 दोनों की सेनाये दो गिरि-सरिताओं सी
 बाँध तोड़ने को पड़तीं बह ।
 एक एक से मिलकर ग्यारह ।

समझ रहा पर्वतक, मगध
 का आधा राज्य वही पावेगा ;
 पावेगा, यदि बाद विजय के
 वह जीवित रह भी पावेगा ;
 उसके स्वप्न-महल जय के सग ,
 मुझसे टकरा जायेगे ढह ।
 एक एक से मिलकर ग्यारह ।

वह क्या जाने कूटनीति को ,
 मेरी गति, विधिऔर रीति को ,
 नृपति विवश हूँ यद्यपि तुझ पर मुझे दया आती है रह रह ।
 एक एक से मिलकर ग्यारह ।

पूरब से आ रहा सवेरा ।

कुछ इठलाता , कुछ मुस्काता ,
 अपना गोरा गात छिपाता ;
 अबर से सौरभ बिखराता ,
 धीरे धीरे चरण बढ़ाता
 मुखरित सा हो गया स्वतः ही सोए हुये विहग का डेरा ।
 पूरब से आ रहा सवेरा ।

यह व्यापक परिमल के गुंबज ,
 यह अलियों के मंदिर - पकज
 मुक्त हुये ; अब छोड़ चुका है इनको क्रूर कठोर अधेरा ।
 पूरब से आ रहा सवेरा ।

दुर्ग निशा का टूट रहा है ,
 बन कर पवन प्रकाश बहा है ,
 जागृति ने जय बोल कहा है ,
 उठो उठ रहा है दुनियां से अंधे - अधकार का घेरा ।
 पूरब से आ रहा सवेरा ।

“नहीं प्रति गिरि मे है भाणिक्य”
 नही मुक्ता प्रति गज के पास, ।
 नहीं रहते सज्जन सर्वत्र
 न चदन का प्रति वन मे वास !”

“नहीं धन देता किसको गर्व ?
 हुआ किस कामी का न विनाश ?
 हुआ नारी पर कौन न मुग्ध ?
 कौन आ पाया नृप के पास ?

काल है किमको सका न जीत ?
 कौन मा याचक हुआ महान ?
 कुपथ पर पड़ कर पंथी कौन
 लक्ष्य का पाता है वरदान ?”

‘सभी को ग्रस लेता है काल
 प्रजा का भी कर देता नाश ।
 उसी मे लय हो जाता विश्व
 व्यर्थ बचने के सभी प्रयास ।”

मैं हत्यारा ?

सभी ओर दे रहा सुनाई ,
 नृप-ब्राह्मण की कौन लड़ाई ,
 और यही, मैंने अपने हाथों से ही नृप को मारा !
 मैं हत्यारा ?

सच क्या है मैं क्यों बतलाऊ ,
 छिप सकता तो क्यों न छिपाऊँ ,
 यदि रहस्य बदी रख सकती मेरे लघु जीवन की कारा !
 मैं हत्यारा ?

सत्य, झूठ की परख कौन सी ?
 उत्तर मे है धरा मौन सी ,
 दीपक कुछ कह कर रुक जाता ; कुछ कहता एकाकी तारा !
 मैं हत्यारा ?



पर्वतक !

तेरी अभिलाषाये महान ,
 पर इसका तुझको नहीं ज्ञान ,
 केवल हिमगिरि के आगे ही झरता है बादल का मस्तक !
 पर्वतक !

बाहों से तेरे नहीं शक्ति ,
 है कहां मुक्ति, यदि नहीं युक्ति ,
 मिट्टी बन कर मिट जाता है पथ पर का निर्बल अवरोधक !
 पर्वतक !

तू कहां, कहां पर चन्द्रगुप्त ,
 तू बदी है, वह भुक्त, मुक्त ;
 तू राजनीति के सागर का छू नहीं सका अब भी तट तक !
 पर्वतक !

साधन से फल कहीं बड़ा है ।

घन-गर्जन से कहीं श्रेष्ठ है
 वर्षा के दो जल-कण,
 पतझर के तप से पावन है
 मधुऋतु का आमत्रण,
 साधन की डाली पर चढ़ कर नर ने फल पकड़ा है ।
 साधन से फल कहीं बड़ा है ।

साधन मूर्तिमान होता है
 फल की अभिलाषा में
 जैसे बधते भाव स्वय ही
 छदों की भाषा में,
 फूलों का उत्सुक शूलों से भिड़ता रहा, अड़ा है ।
 साधन से फल कहीं बड़ा है ।

मैंने भी तो कर्म किये हैं
 केवल फल के पथ पर ,
 जय की ओर बढ़ा हूँ चढ़कर
 संघर्षों के रथ पर,
 कर्म चीखते, किंतु स्वय फल हँसता हुआ खड़ा है ।
 साधन से फल कहीं बड़ा है ।

कर्म का मतलब ही है कर्म ।

यहाँ कब इच्छा, हो फल प्राप्त
कर्म करना ही है पर्याप्त,
कर्म के सग ही कर्म समाप्त
कर्म से कर्म स्वय ही व्याप्त,

सफलता का है यह ही मर्म ।

कर्म का मतलब ही है कर्म ।

न इसमे पुण्य, न इसमे पाप
नहीं शीतलता और न ताप,
न इस मे हर्ष न यहाँ विलाप
न ये वरदान न ये है शाप ,

आज के युग का यह ही धर्म ।

कर्म का मतलब ही है कर्म ।

कर्म से नहीं हार या जीत
कर्म में नहीं घृणा या प्रीति ,
कर्म है वही मधुर सगीत
कि जिससे वसुधा रही पुनीत ,

प्राप्ति स्वयमेव बन गई कर्म ।

कर्म का मतलब ही है कर्म ।

उदित सूर्य प्रणाम !

तोड़ कर के रात्रि का गढ़ ,
 व्योम पथ पर तुम गए बढ़ ,
 कर रहे तुम विश्व का प्रांगण पुनीत ललाम !
 उदित सूर्य प्रणाम !

ताप भी जिसका सुखद है ,
 चेतना जिसकी विशद है ,
 कर रहा ज्योतिष सतत सघर्ष का परिणाम !
 उदित सूर्य प्रणाम !

सुप्त कलियों को खिलाओ ,
 बंद अलियों को छुड़ाओ ,
 म्लान भूतल को बनादो ज्योतिमय अभिराम !
 उदित सूर्य प्रणाम !

आ गई उदय - किरण ।

सुरभि द्वार पर खड़ी ,
 पवन पथ पर अड़ी ,
 कर रहा मिलिद है मौन मुक्ति का वरण ।
 आ गई उदय - किरण ।

दिवस पंथ पर बढ़ा ,
 सुमन वृत्त पर चढ़ा ,
 बिखर रहा प्रकाश में राग हीन जागरण ।
 आ गई उदय - किरण ।

शाम देखती रही ,
 व्यर्थ कालिमा बही ,
 जन्म बन रहा अभी किसी प्रदीप का मरण ।
 आ गई उदय - किरण ।

आज विजय का दिवस मनाओ !

मुक्त नागरिक तुम्हें बधाई ,

देती कलियों की अरुणाई ,

मुखरित अलि कहते स्वतंत्रता, जय, जीवन के गीत सुनाओ !

आज विजय का दिवस मनाओ !

स्वतंत्रता अधिकार हमारा ,

उसके प्रति है प्यार हमारा ,

होकर स्वयं स्वतंत्र, विश्व के सम्मुख शुचि आदर्श बनाओ !

आज विजय का दिवस मनाओ !

यह नव-युग का प्रथम चरण है ,

युग प्रदीप की प्रथम किरण है ,

निज दृढ़-पद-गति को भविष्य के भाग्य-भवन की नींव बनाओ !

आज विजय का दिवस मनाओ !

मन का यह क्रम सतत, सनातन ।

माना मेने सब कुछ पाया

अब तक अपना वचन निभाया ,

पर फिर भी क्यों शांत न अब तक हुआ हृदय का है आंदोलन ।

मन का यह क्रम सतत, सनातन ।

हुआ छत्रपति चंद्रगुप्त है ,

पशुता से भू हुई मुक्त है ,

अब जय को शाश्वत करने के हित में खोज रहा हूँ साधन ।

मन का यह क्रम सतत सनातन ।

प्राप्ति, प्राप्ति की प्यास बढ़ाती ,

जय, जय की इच्छा उपजाती ,

वर्तमान देता रहता है मौन भविष्यत को आमंत्रण ।

मन का यह क्रम सतत सनातन ।

हैं सामनीति ही रहती दायें कर में ,
 मैं दामनीति से जल भरता पत्थर में ।
 मैं दण्डनीति से दमन दुष्ट का करता ,
 मैं भेदनीति ही निज भावों में भरता ।
 मैं हूँ निर्बल का न्याय, भाग्य का ज्ञाता ,
 मैं गजयोग का स्वत्व, विजय का भ्राता ।

मेरे प्रति डग में युग की एक कहानी ,
 मेरी श्वासों में प्रलय, मेघ की वाणी ।
 हैं उँगली का सकेत लक्ष्य का स्वामी ,
 शासन हूँ मेरे पौरुष का अनुगामी ।
 मैं गीता का निष्काम प्राप्ति का घट हूँ ,
 मैं नद वश का नाशी अक्षयवट हूँ ।

मैं क्या हूँ ; यह है कौन भला पहचाना ,
 मेरा सच्चा व्यक्तित्व न जग ने जाना ।
 पहने रहता मैं राजनीति का चोला ,
 है मैंने मन का मर्म अभी कब खोला ।
 मुझमें इस युग के कुरुक्षेत्र की गीता ,
 मेरे अर्जुन से कौन विश्व में जीता ।

हैं राजनीति भी अर्थनीति की दासी

पहले पार्थिव आवश्यकता, फिर आगे,
जो कुछ भी जिसकी इच्छा हो वह मांगे।
हैं बिना अर्थ के मानवता भी प्यासी।
हैं राजनीति भी अर्थनीति की दासी।

हैं क्रांति वहीं होती कि जहाँ नर भूखे,
पतझर वहीं, हों विटप जहाँ पर सूखे,
नर सामाजिक प्राणी, न शून्य सन्यासों।
हैं राजनीति भी अर्थनीति की दासी।

सतुष्ट लोक हैं राम राज्य की भाषा,
जन मन का मगल ही उसकी परिभाषा,
हैं यहीं अयोध्या और यहीं पर काशी।
हैं राजनीति भी अर्थनीति की दासी।

जितना जितना मैंने निज को बतलाया
जग उतना उतना समझा मुझे पहेली ।
अपने में जग में भेद एक ही पाया
शूलों, भूलों में मेरी राह अकेली ।

पत्थर मेरे भी पद में आ टकराते
पर मेरा आहत चरण नहीं रुकता हूँ ।
मैं सबल बनूंगा ठोकर खाते खाते
यह सोच नहीं मेरा मस्तक झुकता हूँ ।

घन गर्जन मेरे भी कानों में कहता
'लो प्रलय सामने ही बढ़ता आता हूँ' ।
सागर लहरो से पद छूकर के बहता
मन मृत्युंजय भय नहीं कभी खाता है ।

मैं महानाश, मैं राजनीति का ज्ञाता ।
मैं अग्रदूत ; मैं युग का भाग्य विधाता !



मेरे जीवन के स्वप्न अधूरे अब भी ।

यद्यपि स्वदेश का भाग्य
 बहुत कुछ बदला ,
 पर अभी न निश्चित हुआ
 कार्यक्रम अगला ,
 हँ हुये भाव साकार न पूरे अब भी ।
 मेरे जीवन के स्वप्न अधूरे अब भी ।

मैं आरत भारत को
 नदन कर दूँगा ,
 सघर्ष करूँगा, मैं
 विश्राम न लूँगा ,
 पर शांति न मिल पायेगी मुझको तब भी ।
 मेरे जीवन के स्वप्न अधूरे अब भी ।

हैं अंत पंथ का, लक्ष्य
 किंतु दूरी पर ,
 विश्वास दिलाता फिर भी
 फँला अंबर ,
 बस मृत्यु, ध्येय की प्राप्ति हो सके जब भी ।
 मेरे जीवन के स्वप्न अधूरे अब भी ।

तुम डाल डाल मैं पात पात ।

तुम मंत्री मैं नृप-निर्माता ,

तुम ज्ञानी मैं त्रिकाल-ज्ञाता ,

तुम मझे जानते किंतु तुम्हारी मारी गति-विधि मुझे ज्ञात ।

तुम डाल डाल मैं पात पात ।

तुम चलते चाल निराली ही ,

पर जिस पथ के बनते राही ,

उसकी सब आगे पीछे की मैं लेता सारी जान बात ।

तुम डाल डाल मैं पात पात ।

मुझसे जय पाना बहुत कठिन ,

मुझसे बच जाना बहुत कठिन ,

राक्षस ब्राह्मण पर जय पाये है इतनी उसकी कब बिसात !

तुम डाल डाल मैं पात पात !



मेरा मस्तक नहीं झुकाओ ।

घन-गर्जन ऊपर लखकर भी
यह हिमगिरि सा अचल रहेगा ,
यह बिजली सा निर्विकार रह
झुका का आवेग सहेगा ,

मत इसकी दुर्बलता नापो, मत इसका साहस अजमाओ ।
मेरा मस्तक नहीं झुकाओ ।

इसे झुकाने के प्रयास मे
महाकाल भी हार चुका है ,
नियति-नियता विजय श्री से
कर इसका शृंगार चुका है ,

इसे पराजित करने मे तुम अपनी शक्ति न व्यर्थ गवाओ ।
मेरा मस्तक नहीं झुकाओ ।

वंसे नमित सभी के आगे
बड़े मोह से, बड़ी विनय से ,
किंतु नहीं यह झुक पायेगा
कभी किसी पशुता के भय से ,

स्वागत आज तुम्हारा केवल यही प्रार्थना झुक कर आओ ।
मेरा मस्तक नहीं झुकाओ ।

भेदनीति कुछ काम न देगी ।

मैं हूँ वह कौटिल्य कि जिसको
चारों नीति रीति आती है ,
जिसको अपने सम्मुख पाकर
राजनीति भी भुक जाती है ,

राक्षस तेरी अधम कुटिलता , कोई भी परिणाम न देगी ।
भेदनीति कुछ काम न देगी ।

मुझमें , चन्द्रगुप्त मे साथी ,
फूट डालना कठिन , असभव ;
मैं उसका सरक्षक , स्वामी ,
वह मेरी छाया का वंभव ;

किं कर्त्तव्य विमूढ़ व्यग्रता, राक्षस ! जय अभिराम न देगी ।
भेदनीति कुछ काम न देगी ।

हां ! तू भी जा संभल, कि तेरा
अस्त्र तुझी पर अब चलता है ;
मेरा एक चरण ही तेरे
अगणित शूलों को दलता है ;

माया फेकूंगा जो तुझको पाने कर्भा विराम न देगी ।
भेदनीति कुछ काम न देगी ।

बोल ! अरी कुछ मुद्रा बोल !

तू है राक्षस का सकेत ,

है सत्ता का मौन निकेत ,

अपनी सीमाओं को आज मेरी इच्छाओं से तोल !

बोल ! अरी कुछ मुद्रा बोल !

शस्त्र उसी का उस पर वार ,

मुद्रा तू हो जा तैयार ,

सावधान मेरा यह भेद नहीं कभी पायेगी खोल !

बोल ! अरी कुछ मुद्रा बोल !

आज गई प्रतिहिंसा जाग ,

और क्रोध की सोई आग ,

ओ मेरे मन के पाषाण, कहीं न भ्रमवश जाना डोल !

बोल ! अरी कुछ मुद्रा बोल !



मिट्टी से लिपटा है इससे कंचन भी है धूल ;
समझना भूल !

राक्षस सब विधि योग्य सबल है ,
ज्ञान, शक्ति, सयम का बल है ,
किंतु नीच है, अगर परिस्थिति वश वह है प्रतिकूल ;
समझना भूल ।

मंत्री राजा का शुभ चिंतक
अन्न और जल पाता जबतक ,
पर वह मेरे भावी पथ का सबसे भारी शूल ,
समझना भूल !

अब मैं इसको तपा तपा कर ,
कर दूँगा माणिक सा सुन्दर ,
चद्रगुप्त वह हो न सकेगा तेरे ही अनुकूल ;
समझना भूल !

सगठन ही शक्ति ।

एक तिनका क्षीण श्रुति असहाय ,

कौन उसके प्रति करेगा न्याय ?

किंतु मिलकर साथ, बनकर रज्जु

जान लेते बाँधने की युक्ति ।

सगठन ही शक्ति ।

सूक्ष्म जलकण वाष्प से भी मंद ,

नयन की मृदु कोर मे ही बंद ;

अगम सागर का अनूठा धैर्य

है अथाह, अनंत क्या अत्युक्ति ।

सगठन ही शक्ति ।

विजय का मिलता इसे उपहार ,

कर रहा संघर्ष है शृंगार ;

है झुकाती शीश पशुता, और

मनुजता करती निरंतर भक्ति ।

सगठन ही शक्ति ।



नया नहीं पथ मेरा ।

मैंने युग के अनुभव, अभिनय ,
 वेद शास्त्र स्मृतियों से परिचय ,
 से कर लोक-धर्म का परिणय ,
 लाना चाहा है अवनो पर सोने भरा सवेरा ।
 नया नहीं पथ मेरा ।

राजनीति मैंने पहचानी ,
 अर्थशास्त्र की भाषा जानी ,
 दोनो की है कड़ी पुरानी ,
 इनके बीच सदा चलता है कर्मों का रथ मेरा ।
 नया नहीं पथ मेरा ।

मेरा ध्येय विश्व हित-चिंतन ,
 मानवता का नया सस्करण ,
 प्रिय अतीत का पुण्य सस्मरण ,
 डाले हुये स्वयं जय इसके राजद्वार पर घेरा ।
 नया नहीं पथ मेरा ।

जहाँ भी, जिस तरफ भी बढ़
नया विश्वास लेकर बढ़ !

नियम सब तोड़ कर के बढ़ ,
शरण सब छोड़ करके बढ़ ,
मरण से होड़ करके बढ़ ,
गरज स प्रेरणा, घन से ,
नया अभ्यास लेकर बढ़ !
जहाँ भी, जिस तरफ भी बढ़
नया विश्वास लेकर बढ़ !

सहारा मांगना मत तू ,
किनारा मांगना मत तू ,
इशारा मांगना मत तू ,
प्रलय से चेतना, मरु से
अटल सन्यास लेकर बढ़ !
जहाँ भी, जिस तरफ भी बढ़
नया विश्वास लेकर बढ़ !

तुझे क्या हार से, जय से ,
तुझे है काम क्या भय से ,
सदा रह दूर संशय से ,
उदय से भावना, नभ से
नया उल्लास लेकर बढ़ !
जहाँ भी, जिस तरफ भी बढ़
नया विश्वास लेकर बढ़ !

असंतोष में रहा किंतु संतोष लिये जाता हूँ
 मैं यद्यपि विषसे धिरा रहा पर अमृत पिये जाता हूँ ।
 मैं देख चुका कर्मों की पूर्ण सफलता
 मैं देख चुका अपने पौरुष की गुरुता ।
 ऐसा कुछ भी तो नहीं, नहीं जो देखा
 अब शेष एक, बस एक मृत्यु की रेखा ।

उससे भी मुझको नहीं तनिक भी भय है
 प्रतिपल ही करता नाश सृजन का क्रय है ।
 यदि नाश न हो निर्माण कहाँ से आए
 यह कर्म-चक्र हतप्रभ हो कर रुक जाए ।
 है जन्म मरण से परे सदा संन्यासी
 फूलों - शूलों से ऊपर व्रती प्रवासी ।

संकेत मुझे उस तट पर का मिलता है
 आमंत्रण देने को सागर हिलता है ।
 मेरी नौका संभ्रधार स्वयं ही होगी
 मेरी श्वासें पतवार स्वयं ही होंगी ।
 ए लहर ! पंथ बन कर दे मुझे सहारा
 पूरा मेरा कर्तव्य हो गया सारा ।

उस तट पर यूनानी सेना

विस्मित हमको देख रही है ,

खींच मुक्ति की रेख रही है ,

सोच रही है किसी तरह से अबकी प्राण बचा ही लेना ।

उस तट पर यूनानी सेना ।

याद उसे शोरस आता है ,

फिर सीना थर्रा जाता है ,

सोच रही है चद्रगुप्त को अबकी सीख सिखा ही देना ।

उस तट पर यूनानी सेना ।

ज्ञात मुझे इन सबका फल है ,

इसी लिये तो मन अविकल है ,

केवल नियति-नदी में मेरे चद्रगुप्त को नौका खेना ।

उस तट पर यूनानी सेना ।



वीर सिकंदर के अनुयायी ।

तुमने भारत को जो देखा ,
खींची हृदय पटल पर रेखा ,

दो मस्कृतियों का मिलाप यह, दो देशों की नहीं लड़ाई !
वीर सिकंदर के अनुयायी ।

हम वारों के सदा पुजारी ,
वीर भूमि के हैं अधिकारी ,

पर ये कभी नहीं हो सकते दम दमन के उत्तरदायी !
वीर सिकंदर के अनुयायी ।

प्राप्तो तुमको गले लगाये ,
युद्ध जन्य वेषम्य भुलाये ,

मानवता के गर्ती पुजारी सदा परस्पर भाई भाई !
वीर सिकंदर के अनुयायी !



हेलन ! यवन देश की, रानी ।

सुन्दर तन, मन और वचन से,
 अपनी सत्ता के ऋण कण से ;
 संस्कार, रुचि से, जीवन से,
 शिक्षा, दीक्षा, अपने पन से ;

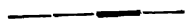
यह यूनान देश पर भारत की जय की सर्वोच्च निशानी ।
 हेलन ! यवन देश की, रानी ।

उसे आर्य बनने की क्षमता,
 उसको है भारत से ममता ;
 कोमल, किंतु नहीं चंचलता ;
 वह यौवन की एक विषमता ;

परिणय चद्रगुप्त से उसका विश्व-विजय की शेष कहानी ।
 हेलन ! यवन देश की, रानी ।

मुझपर अति श्रद्धा करती है,
 देख मोद मन मे भरती है ;
 पर मन ही मन मे डरती है,
 सोच समझ कर पग धरती है ;

क्योंकि समझती पथ देश के लिये एक ब्राह्मण की वाणी ।
 हेलन ! यवन देश की, रानी ।



जग ने नाहक ही कहा मुझे युग-दृष्टा ।

मैंने थोड़ा इतिहास-पथ को मोड़ा ,

विश्वासों के बधन को छोड़ा, तोड़ा ;

उन्नत करदी भारत की प्राण-प्रतिष्ठा ।

जग ने नाहक ही कहा मुझे युग-दृष्टा ।

मिटने वालों ने स्वय मिटाया निज को ,

बनने वालों ने स्वय बनाया निज को ,

बनना, मिटना केवल विधि की गति-शिष्टा ।

जग ने नाहक ही कहा मुझे युग-दृष्टा ।

मैं युग-प्रवर्तक नहीं, एक सेनानी ,

जिसने केवल भेला है आगी-पानी ,

जो कुछ जो कहता वह उसकी है निष्ठा ।

जग ने नाहक ही कहा मुझे युग - दृष्टा ।



पथ कितना शेष, मजिल और कितनी दूर ?

पद शिथिल यद्यपि नहीं पर क्लान्त से है प्राण ,
देख कर तम से भरा आकाश पथ वीरान ,
फिर समय की अल्पता, निज भाग्य भी अज्ञात ;

रात दिन सघर्ष से मस्तिष्क चकनाचूर ।

पथ कितना शेष, मजिल और कितनी दूर ?

हैं पथिक अगणित अनेको ही यहाँ पाथेय
और अगणित है दिशाये, हे अनेकों ध्येय
प्रति पथिक फिर भी अकेला कौन सा आश्चर्य

दृष्टि की सीमा उसे रखती सदा मजबूर ।

पथ कितना शेष, मजिल और कितनी दूर ?

मनु मनस्वी युग युगों चलता रहा अविराम
आ चुकीं कितनी उषा, मध्यान्ह, कितनी शाम
जर्जरित पथी , शिथिल पाथेय , धूमिल लक्ष्य

जीर्ण कितनी राह, उसका अत कितना क्रूर !

पथ कितना शेष, मंजिल और कितनी दूर ?

यह कैसा जीवन ?

जिससे मिलकर विष बनता सहसा संजीवन !

सघर्षों से शांति मिली है ,

मुरझाने को कली खिली है ,

आत्म समर्पण के बदले मे

बंधन पाती अलि-अवली है ;

रजनी के आंसू छू करता प्रातः मधु वर्षण ।

यह कैसा जीवन ?

अपनों की अपनों से आशा

परख, परीक्षा की जिज्ञासा ,

पर केवल मृग मरु की भाषा

सबधों की है परिभाषा ,

विस्तृत पारावार यहाँ पर सीमित करुणाकण ।

यह कैसा जीवन ?

एक पहेली, एक कहानी ,

जैसे घन-गर्जन की वाणी ;

फिर भी मानवता कल्याणी

चरम सत्य है, चिर पहचानी ;

वह भी हुई पराजित करके देवों का वदन ।

यह कैसा जीवन ?

जगा क्यों सहसा आज विराग ?

शांत क्यों आज हुआ तूफान ?

पंथ क्यों आज हुआ सुनसान ?

सुनाई देता मन मे आज अजब ही राग ; अजब ही राग ।

जगा क्यों सहसा आज विराग ?

हुआ क्या पूरा मेरा लक्ष्य ?

खुला क्या आज भाग्य का कक्ष ?

चरण गति को करती है मद, प्राप्ति की इच्छा बनकर त्याग ।

जगा क्यों सहसा आज विराग ?

न परिवर्तन का जिसको ज्ञान ,

अटल निश्चय सा जिसका ध्यान ,

उसी की प्रति श्वासों के शूल माँगते जग से आज पराग ।

जगा क्यों सहसा आज विराग ?



चंद्रगुप्त !

छोड़ जा रहा ,

स्नेहपाश

तोड़ जा रहा ;

वचन-मुक्त !

चंद्रगुप्त !

तुम सुखी रहो ,

और आश ,

जय सदा गहो ;

हो न लुप्त !

चंद्रगुप्त !

शोक मत करो ,

मत निराश

हो व्यथा भरो ,

शांत सुप्त !

चंद्रगुप्त !

जब बसंत से मोह नहीं तो पतझर से भय कैसा ?

इस जीवन के लंबे पथ पर
कभी न माँगी छाया ,
सहचर या पाथेय न इसपर
अब तक कोई आया ,

फिर इस पर हो सके भला शूलों का सशय कैसा ?
जब बसंत से मोह नहीं तो पतझर से भय कैसा ?

रचे नहीं कवि बन कर जिसने
माया के मधु सपने ।
जिसे न कोई कभी विराने
और न कोई अपने ,

उसे मोह का क्लेश और बिछुड़न से परिचय कैसा ?
जब बसंत से मोह नहीं तो पतझर से भय कैसा ?

लक्ष्य प्राप्त है इष्ट नहीं
वाञ्छित है चरणों का क्रम ,
देता है आदेश मुझे
मेरी वाणी का समय ,

कर्म और फल का होगा बोलो ऋय-विक्रय कैसा ?
जब बसंत से मोह नहीं तो पतझर से भय कैसा ?

जाने क्या इतिहास करेगा !

मेरे इन कर्मों को पढ़कर ,

मेरी इन बातों को सुनकर ,

रो देगा , अथवा हँस देगा या मेरा उपहास करेगा !

जाने क्या इतिहास करेगा !

कोई नहीं महान कहेगा ,

पर न विश्व नादान कहेगा ,

हाँ ! जो कुछ मैं हूँ उस पर तो कौन भला विश्वास करेगा !

जाने क्या इतिहास करेगा !

मेरा न्याय न हो पायेगा ,

पर निर्णय भी भय खायेगा ,

जिसे भूमि ही कर न सकी क्या उसे भला आकाश करेगा !

जाने क्या इतिहास करेगा !

व्यर्थ याद आता जीवन का रागहीन अवसाद
जब कि सत्य सुख नहीं और दुख भी केवल क्षणभंगुर ।
इन सब से तो कहीं पुण्य है देव तुम्हारी याद
जो देती है क्षीण कठ को मधु मगलमय स्वर ।

वह स्वर जिसकी प्रतिध्वनि ने है रचे अनेकों गीत
गीत कि जो है जले सदा से बन पूजा के दीप ।
न्योछावर होता है जिस पर मंगल भरा अतीत
जिसकी आभा मे दूरी भी दिखती स्वयं समीप ।

देव ! अश्रु का हास, हास का गंधराग अब शांत
अब तो केवल आगे पीछे देव तुम्हारा रूप ।
दृढ़ पद बढ़ते जाते है प्रिय मंदिर तक अक्लात
धरे तुम्हारी प्रतिभा क्षण भर मेरा दीन स्वरूप ।

जिस दिन मे समझूंगा मेरी हुई साधना सत्य
बादल बन कर देव देखना मन-मयूर का नृत्य ।

असंतोष मे रहा किंतु संतोष लिये जाता हूँ
 मैं यद्यपि विषसे धिरा रहा पर अमृत पिये जाता हूँ ।
 मैं देख चुका कर्मों की पूर्ण सफलता
 मैं देख चुका अपने पौरुष की गुरुता ।
 ऐसा कुछ भी तो नहीं, नहीं जो देखा
 अब शेष एक, बस एक मृत्यु की रेखा ।

उससे भी मुझको नहीं तनिक भी भय है
 प्रतिफल ही करता नाश सृजन का क्रय है ।
 यदि नाश न हो निर्माण कहाँ से आए
 यह कर्म-चक्र हतप्रभ हो कर रुक जाए ।
 है जन्म मरण से परे सदा सन्यासी
 फूलों - शूलों से ऊपर ब्रती प्रवासी ।

सकेत मुझे उस तट पर का मिलता है
 आमत्रण देने को सागर हिलता है ।
 मेरी नौका मंभुधार स्वयं ही होगी
 मेरी श्वासे पतवार स्वयं ही होंगी ।
 ए लहर ! पथ बन कर दे मुझे सहारा
 पूरा मेरा कर्तव्य हो गया सारा ।

पशुवत बीता जीवन !

मिला ज्ञान का अमृत मुझको राजनीति का विष बन !

पशुवत बीता जीवन !

व्यस्त रहा मैं संघर्षों मे ,

कुछ उलझे से आदर्शों मे ,

भूल शूलमय कुछ वर्षों मे ,

बिखर गया पथ के रजकण मे मृदु भावों का कपन !

पशुवत बीता जीवन !

गिरा लोक हिन इतने नीचे ,

पर मैंने यह कह दृग मींचे ,

कहीं व्यक्ति के ऊँच-नीच से ऊपर है जनरजन !

पशुवत बीता जीवन !

अब तो हँ रवि अस्त हो रहा,

दिन की क्या व्याख्या जब आया वह नभ मे रजनी बन !

पशुवत बीता जीवन !

सूरज को दिन रोक न पाया ।

पहले सोने का रथ छोड़ा

तपसी बन गृह से मुंह मोड़ा

फिर रुक कर देखने लगा वह अतिम बार विश्व की माया ।

सूरज को दिन रोक न पाया ।

मखद भविष्यत की ले आशा ,

या अतीत की मूक निराशा

ने उसको इस निर्जन पथ पर चलने वाला पथिक बनाया ।

सूरज को दिन रोक न पाया ।

तप्त ज्येष्ठ पर चढ़ सावन ने

धूमिल भू पर काले घन ने

वाण - प्रस्थ रवि की इस जगल में सूनी कुटिया को छाया ।

सूरज को दिन रोक न पाया ।

कर न अंतिम श्वास अब उपहास !

प्रभु क्षमा हों पाप मेरे,
शांत हों अभिशाप मेरे,
निर्विकार निरीह बन आऊं तुम्हारे पास !
कर न अंतिम श्वास अब उपहास !

देवता मैं बन न पाया,
पशु न पर निज को बनाया,
मैं बना मानव रहा मेरा सुदृढ़ विश्वास !
कर न अंतिम श्वास अब उपहास !

रुक, जहाँ प्रभु के चरण हों,
विश्व पर हँसना मरण हो,
भूमि ही मेरी चिता, मेरा कफ़न आकाश !
कर न अंतिम श्वास अब उपहास !
